यतेन्द्रकुमार

छाया के स्वर

लेखक की अन्य प्रमुख रचनाएँ

महाकवि कीट्स का काव्य-लोक

महाकवि जॉन कीट्स के अधिकांश काव्य का हिन्दी कविता में सरस और सरल रूपान्तर। कवि के जीवन और काव्य का सरस, विस्तृत और शोधपूर्ण परिचय। पत्रों का संकलन भी। हिन्दी के प्रमुख पत्रों ने इसे 'अद्वितीय प्रयत्न' के रूप में सराहा है। ७.५०

महाकवि वर्ड्सवर्थ का काव्य-लोक

अंग्रेजी रोमानी काव्य के प्रमुख कवि विलियम वर्ड्सवर्थ की चुनी हुई रचनाओं का सफल रूपान्तर। (प्रेस में)

महाकवि शेली का काव्य-लोक

शेली के अधिकांश काव्य का नवीन रूप में ओजस्वी सरस रूपान्तर। (प्रेस में)

शेली

महाकवि पर्सी बिशी शेली के चुने हुए काव्य का रूपान्तर। कवि का जीवन और उसके काव्य का विस्तार से परिचय। इस पुस्तक को भारत सरकार ने दो हजार और उत्तर-प्रदेश सरकार ने तीन सौ रुपए के नकद पुरस्कार से सम्मानित किया है। २.५०

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

काश्मीर के आँगन
में गुंजित सॉनेटों
की पंचाशिका

छाया के स्वर

रचयिता
यतेन्द्रकुमार

भूमिका
डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन'

आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

CHHAYA KE SWAR

by

Yatendra Kumar

Re. 1.00

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	एक रुपया
प्रथम संस्करण	:	१ ९ ६ ०
आवरण	:	ज्ञान सौंकरिया
मुद्रक	:	मूवीज़ प्रेस, दिल्ली-६

उस छाया को—

जो मेरे आलोक को स्वर दे गई !

भूमिका

श्री यतेन्द्रकुमार के पचास सॉनेटों का संग्रह 'छाया के स्वर' नाम से प्रकाशित होने जा रहा है । उनकी यह इच्छा है कि मैं इसकी एक छोटी-सी भूमिका लिख दूँ । इन पंक्तियों को लिखते हुए मैं बड़ी प्रसन्नता और गौरव का अनुभव कर रहा हूँ । इस रूप में मेरा नाम अपनी रचना के साथ संबद्ध करने के लिए मैं लेखक के प्रति अपना आभार प्रकट करना चाहता हूँ ।

हिन्दी पाठकों के लिए श्री यतेन्द्रकुमार का नाम अपरिचित नहीं । इसके पूर्व उनके शेली और कीट्स की कविताओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं । वर्ड्सवर्थ की कुछ कविताओं का अनुवाद भी उन्होंने कर लिया है । यदि हमारे लोग मौलिक अंग्रेजी से ही अधिक परिचित न होते तो इन अनुवादों को अधिक प्रचार मिलना चाहिए था ।

जहाँ तक मैं जानता हूँ 'छाया के स्वर' कवि की मौलिक कविताओं का प्रथम संग्रह है जो प्रकाशित होने जा रहा है । इन कविताओं ने गीत—एक विशेष प्रकार के गीत—का रूप लिया है जिसे सॉनेट कहते हैं । सॉनेट से हिन्दी के पाठक अपरिचित नहीं हैं । यह तो खोज का विषय होगा कि कोई पता लगाए कि हिन्दी में सबसे पहला सॉनेट किसने लिखा । जहाँ तक मुझे स्मरण है सॉनेटों का पहला संग्रह 'झलक' नाम से श्री ब्रजमोहन तिवारी लिखित सन् '३५ के आस-पास प्रकाशित हुआ था । उसके बाद सॉनेट-लेखकों में श्री त्रिलोचन, श्री गुलाब खंडेलवाल, श्री बालकृष्ण राव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । यों श्री सुमित्रानंदन पंत ने भी कुछ सॉनेट लिखे हैं । श्री राजेन्द्र द्विवेदी ने शेक्सपियर के सॉनेटों का अनुवाद गत वर्ष ही प्रकाशित किया है । यदा-कदा और भी कवियों द्वारा मौलिक अथवा अनूदित सॉनेट देखने में आए हैं । हिन्दी का सॉनेट-साहित्य थीसिस का नहीं तो एक बड़े निबंध का विषय तो बन ही सकता है ।

सॉनेट मूलतः चौदह पंक्तियों का इटालवी छंद था जो अष्टक-षष्टक में विभाजित किया जाता था और जिसमें तुकों की एक विशेष योजना थी । अंत

की दो पंक्तियों का एक तुक रखना वर्जित था । पूरे सॉनेट में एक भाव या विचार का विकास किया जाता था और ये मुख्यतया प्रेम-संबंधी होते थे । इस छंद को अंग्रेजों ने अपनाया पर इसमें बहुत-से परिवर्तन कर दिए । स्पेंसर ने अष्टक-षष्टक का भेद मिटा उन्हें तीन चतुष्पदियों और अंत की दो एक-तुकी पंक्तियों में बदल दिया । शेक्सपियर ने मुख्य रूप तो यही रखा पर तुकों की संख्या बढ़ा दी जिससे स्पेंसरी सॉनेट में जो चतुष्पदियाँ जुड़ी हुई लगती थीं, वे अलग-अलग हो गईं । मिल्टन ने मूल इटालवी छंद का रूप अपनाया पर विषय को व्यापक बनाया । अब जरूरी नहीं था कि प्रेम ही सॉनेट का विषय हो । वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति-चित्रण भी सॉनेटों में किया । नैतिक और धार्मिक विषय पर भी सॉनेट लिखे । आधुनिक समय में सॉनेट के साथ और भी स्वतंत्रताएँ ली गईं, गो शुद्ध नियमबद्ध सॉनेट लिखना आज भी पद्य-रचना-कौशल का एक सबूत माना जाता है ।

हिन्दी में भी तीनों प्रकार के सॉनेटों का अनुकरण किया गया है । आधुनिक समय में कमिंग्स ने सॉनेटों में जो स्वतंत्रताएँ ली हैं उसका प्रतिरूप कुछ-कुछ हम श्री बालकृष्ण राव के सॉनेटों में देख सकते हैं ।

श्री यतेन्द्रकुमार ने सॉनेट का रूप स्पेंसरी या शेक्सपियरी रखा है, पर चतुष्पदियों के तुकों में बहुत स्थानों पर इटालवी तुक-योजना रखी है । यानी तुक पंक्ति के अंत में 'घर', 'हम', 'कर', 'कम' की तरह भी और 'घर', 'हम', 'कम', 'कर' की तरह भी । विषय में वे इटालवी सॉनेट की परंपरा पर गए हैं; विषय इन सॉनेटों का प्रेम है । वातावरण और विकास-क्रम की संबद्धता भी पहली बार इन सॉनेटों में देख रहा हूँ ।

सॉनेट की जो उपलब्धियाँ हुई हैं अभी वे संतोषजनक नहीं कही जा सकतीं । अनुकरण के प्रयत्न तो हुए हैं पर हिन्दी की प्रवृत्ति-प्रकृति के अनुसार साहसपूर्ण स्वतंत्रताएँ लेकर अभी कोई ऐसा रूप विकसित नहीं हो सका जिसके साँचे में हमारे भाव-विचार सरलता, सुघरता से ढल जाएँ । ऐसे पच्चीस-तीस सॉनेट लिखकर भी कोई प्रतिभाशाली कवि परदेसी छंद के इस रूप को प्रयोग की अवस्था से निकाल कर स्थायित्व प्रदान कर सकता है । श्री यतेन्द्रकुमार के प्रयोग इस दिशा में मूल्यवान समझे जाएँगे । कविता में भाव-विचार की इकाई को रखते हुए उसे चौदह पंक्तियों के अन्दर चरम सीमा पर पहुँचा देना

लेखन-कला का ऐसा कौशल है जो बहुत साधना, शब्द-संयम और आत्म-नियंत्रण माँगता है । यह नवोदित कवि के लिए शिक्षण और सिद्धहस्त कवि के लिए परीक्षण का माध्यम बन सकता है । आवश्यकता है कि छंद के इस रूप को लेकर अभी और प्रयोग किए जाएँ । पचास-साठ अच्छे हिन्दी सॉनेटों का एक प्रतिनिधि संकलन, जिससे उनका विकास भी देखा जा सके, काव्य के इस रूप की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर सकेगा । ऐसे समय में जब कि काव्याभिव्यक्ति का माध्यम विशृंखल हो रहा है इस सुसंगठित छंद का स्वागत किया जाना चाहिए । श्री यतेन्द्रकुमार का संग्रह बड़े अच्छे समय में आया है । यदि इससे अन्य कवियों को सॉनेट लिखने की प्रेरणा मिले तो मैं इसे हिन्दी-कविता के लिए सौभाग्य का चिन्ह ही समझूँगा । अंग्रेजी काव्य से परिचित लोग जानते हैं कि कवियों ने विषयों की कितनी विविधता भी इसमें सन्निहित की है। हिन्दी सॉनेटों के विकास को देखते हुए मुझे इसका भविष्य उज्ज्वल मालूम होता है ।

ऊपर मैंने श्री यतेन्द्र के सॉनेटों में वातावरण की एकता की चर्चा की है । यह है काश्मीर की घाटी का प्रकृति-चित्रण । शब्दों में प्रकृति का वर्णन-चित्रण भी काव्य-कला का अंग माना जाता है । मुझे प्रकृति के ऐसे वर्णनों में रुचि नहीं । इसके लिए मेरे संस्कार उत्तरदायी हो सकते हैं । मेरी रुचि है मनुष्य के भाव-राग में । प्रकृति उनकी पृष्ठभूमि बनकर आए तो मैं उसका स्वागत करता हूँ । जीवन के रंगमंच पर मैं उसे दृश्यपटी मान सकता हूँ, अभिनेत्री नहीं । मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि श्री यतेन्द्र के सॉनेटों में प्रकृति मानव-भावना में गुँथकर ही आती है । वह कहीं भी प्रमुखता प्राप्त करने का प्रयास नहीं करती। काश्मीर इतना सौंदर्य-संकुल है कि भावनाओं को भूल या दबा उनकी ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक था, पर यतेन्द्र जी ने हर जगह संयम-संतुलन रखा है । 'छाया के स्वर' प्रकृति-प्रेमी का काव्य नहीं, मानव-भावनाओं के प्रेमी का काव्य है ।

अंत में दो शब्द इन भावनाओं के संबंध में । हमें याद रखना चाहिए कि वर्षों श्री यतेन्द्र शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ की कविताओं में रमे हैं जो अंग्रेजी के सबसे बड़े रोमानी कवि माने जाते हैं । रोमानी कवियों की एक विशिष्टता यह थी कि वे मानव-हृदय की पवित्रता में विश्वास करते थे और उसमें उठने वाली

किसी भावना से लज्जित नहीं हाते थे, उसे साहस और निर्भीकता के साथ व्यक्त करते थे। श्री यतेन्द्र उनसे पर्याप्त प्रेरित हैं, साथ ही उन्होंने अपने पर सुरुचि का संयम भी रखा है। सुरुचि से कड़े नियंत्रक और परिष्कारक की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। इन भावनाओं पर इससे बड़ा नियंत्रण और क्या हो सकता था कि उन्हें अपने पैर फैलाने का अधिकार सॉनेट के छोटे-से पींजरे में ही है। कला में जो कहा गया उससे अधिक महत्ता उसकी है जो नहीं कहा गया। मैंने अपनी कल्पना में बहुत से भावों के पींजरे खोल दिए हैं और मैंने देखा है कि उनमें बहुत बड़ी नील-परिधि घेरने की शक्ति है।

मैं मौलिक सर्जक के रूप में यतेन्द्र जी का स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि वह आगे हमें और भाव-भरी और खरी कृतियाँ दे सकेंगे।

१३, विलिंगडन क्रिसेंट,
नई दिल्ली-११
४ मई, १९६०

'बच्चन'

संकेत

काश्मीर की कमनीय घाटी में—

सूरज अस्त हो गया था। साँझ का तारा श्यामल पुष्करिणी पर झिलमिल रेखा खींच रहा था। अँधेरी तलहटी चाँद के लिए व्याकुल थी।

तब—

पथरीली डगरों पर भकटता था यायावर। सुधियों से दंशित। थका-हारा। उसका तिमिराच्छन्न मन भी रह-रह कर अपने चाँद को पुकारता था।

चाँद उगा। तलहटी चाँदनी में जागी, पर वह चाँद पथिक के चरणों से एक नई छाया बाँध गया, जो तब से निरन्तर उसे अवश खींचती हुई, दूर-सुदूर भटकाती रही है, क्योंकि वह चाँद उसके पार्श्व में उदित हुआ था, सामने नहीं, अन्यथा वह इस कुण्ठा की छाया से मुक्ति पा जाता।

उसके मन की घाटी अब भी चाँद से जगमग है। पर अब भी उसके आगे उसकी छाया है, और सामने अदृश्य में खोईं न जाने कितनी अनगढ़ डगरें, अनजान वीथियाँ और अधबनी लीकें उसके अनचाहे पगों की प्रतीक्षा कर रही हैं …

सॉनेट-क्रम

तुम्हें याद है ? नाम लिखा था तुमने मेरा नदी किनारे,
एक साँझ अपनी उँगली से भीगे हुए रेत के ऊपर:
जिसको थोड़ी देर बाद ही मिटा दिया लहरों ने आकर,
देख जिसे, जाने क्यों उस क्षण, भर आये यों नयन तुम्हारे ?

इतनी क्यों ग़मग़ीन हुईं तुम ? जिसे नष्ट कर गईं हिलोरें,
वह तो क्षणिक : किन्तु जिसका प्रतिरूप लिखा था मेरे मन पर,
नहीं सहज वह पायेगा मर, काल - तरंगों से टकरा कर।
फिर जाने क्या सोच तुम्हारी मुस्काईं नयनों की कोरें ?

सच, उस सुख की सुधियों को ही, रूप दे रहा हूँ कविता का:
वह भीगी मुसकान, नेह भीगा विश्वास तुम्हारा मुझ पर,
करता रहा सहज प्रेरित, मैं तब से लिखता रहा निरन्तर:
अब मुसकायें नयन तुम्हारे, भय न करें वे नश्वरता का !

मेरा नाम, तुम्हारी छाया—विश्वासों की जीत हमारी !
आज समय की नदी किनारे, हार रहीं लो, लहर बिचारी !

नदी किनारा, तरु की छाया सिर मेरा, औ' गोद तुम्हारी !
देख रहा भीगी बालू पर, अंकित चरणों की रेखाएँ,
जो हम तक आकर रुकती हैं : ये उँगलियाँ प्यारी - प्यारी,
खेल रहीं मेरे बालों से, उलझी - उलझी लट सुलझाएँ !

सोच रहा हूँ मैं अतीत पर, अंकित हैं जिस पर घटनाएँ,
आज हमें जो छोड़ गई हैं, जीवन की सरिता के तट पर।
नया निमंत्रण बोल रहा है, इस सरिता की लहर - लहर पर;
आओ ! थोड़ी देर और हम, श्रांत, दग्ध मन को बहलाएँ।

पीछे गत, सामने अनागत : लगता वर्तमान ही सुखकर !
चरणों की रेखाओं जैसी, लगती हैं गत की पीड़ाएँ।
और अनागत में सुख ? यह अनकही व्यथा के सदृश निरन्तर
उकसाता है हमें ! बुलातीं प्रतिपल हमको विकल तृषाएँ !

तब—धीरे से झुक जाने दो मृदु ग्रीवा मेरी बाँहों से !
जाने कब पुकार ले कोई लहर अनागत की राहों से ?

कितनी प्यारी है यह वेला ! यहाँ पड़ा चुपचाप घास पर
देख रहा हूँ दूर चीड़ के पेड़ों की क़तार के नीचे
चरती श्यामल गायों की पाँतें : 'वन-पाटल', और 'गुडशज़र'[1]
भीनी महक उठाते : पड़ा अलस, तंद्रिल, आँखें अधमींचे।

एक शब्द, कर्तव्यनिष्ठ-सा, बहा जा रहा निर्भर चंचल :
मेरे पग पर उड़ - उड़ गिरती पानी की शीतल फुहार है !
कभी समीरण के झकोर, छितरा देते मेरी केशावलि;
मेरे मन में धरा कहीं पर, मधुर व्यथा का अलस भार है !

कितना प्रिय लग रहा कल्पना की तूली से चित्र बनाना
मुझे तुम्हारा, नीरव प्रकृति पटल पर, जब तुम दूर कहीं पर
अवश रुष्ट, उन्मन, पर सहसा किन्हीं पगों की आहट पाकर,
बार-बार जातीं खिड़की पर !—मैं हूँ यहाँ; न तुमने जाना।

फिर भी मुझसे दूर कहाँ तुम ? तुम भी यहीं अलस, अधमींचे
दृग से देख रही हो चरती गायों को पेड़ों के नीचे।
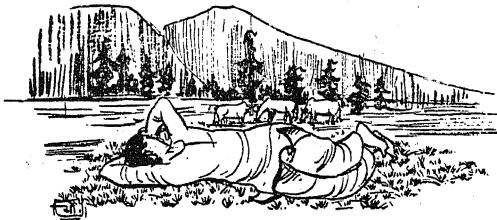
१. काश्मीर का एक वन्य पुष्प।

अर्धक्षिप पलकों के समक्ष हो रहा दृश्य है मूर्त मनोहर।
धवल 'पॉपलर'[१] पर्ण - राजि होता समीरणों में है कम्पित;
लगता जैसे हरित हिलोर चढ़ रही ऊपर मन्थर - मन्थर;
जिसके पीछे स्रष्ट्र - पार्श्व - सी पड़ी शैलिनी नीलम लोहित।

पड़े जहाँ पर अलस - उनींदे, बिखरे - छितरे बादल के दल :
नीचे 'मानस-बल'[२] का जल - तल पड़ा अचंचल, जिसके ऊपर
झाँक रहीं उनकी छायाएँ, चित्र - विचित्र रूप धर - धर कर :
किरणों के प्रतिबिम्ब कर रहे, जलकण नखत सरीखे झलमल।

नयन कोर के निकट, झील के तट पर, गमलों की क़तार है :
एक पात्र पर खिली 'पैन्ज़ी'[३] पीली, हृदय कत्थई, राजित
तितली जिस पर, पंख बैंगनी, वनफ़शई धारों से चित्रित;
हुई विकीर्ण रश्मि सतरंगी सुरधनु की देती बहार है।

निकट - दूर : लघुतम - विराटतम: जुड़ी वस्तुएँ करती ग्रंथन—
एक दृश्य का, जो मेरी आत्मा को करता प्रतिपल विवसन।

१. सफेदे का वृक्ष। २. काश्मीर की एक रमणीक झील। ३. पुष्प विशेष।

कहते हैं बहार आती है, अल्पकाल तक ही रहती पर,
जैसे वायु झकोर जंगली फ़लों को छितरा देते हैं !
फिर क्या रहता शेष ? कँटीली डालों से उलझा करते हैं
लोचन; डाल सिसकती हैं उन फ़लों को यादों से भर - भर ।

आओ, मेरे शैलग्राम में आई है बहार मदमाती !
आओ, 'चीड़ों' के वन में, बनफ़ल बटोरें सब मिल-जुलकर !
अरे, घास तक 'हर्द - पोश'[1] से सजा रही है अपनी छाती !
आओ, 'गुल लाला'[2] से अपनी वेणी आज सजाओ सुन्दरि !
जब तक है बहार, मत छोड़ो ! फिर न मिलेगा शायद अवसर !
अल्पकाल हैं पुष्प, कँटीली डालों से ही होगा परिचय !
आओ, पान करें सौरभ का, करे हृदय नवरस का संचय !
होता उतना ही आकर्षक, जो जितना होता है नश्वर ।

फिर क्यों करो विलम्ब ? गया जो छूट, न वह फिर मिल पायेगा !
इस बहार की सुखद याद से पतझर का दुख हलकायेगा ।

१. काश्मीर में घास पर उग आने वाले पीले फूल । २. कश्मीर का पुष्प-राज लालपोश-अंग्रेजी नाम पॉपी ।

कितनी देर तलक गरजीं, तरजीं नभ में घनघोर घटायें !
तड़ - तड़ गिरे बुंद बरखा के, चारों ग्रोर ग्रँधेरी छाई !
पर ग्रब कैसा हुग्रा उजाला ! दिया तलहटी में दिखलाई,
विहँस उठीं स्वाधीन, चदुर्दिक् शैलों से, ग्रालोक शिरायें !

दूर डूबता सूरज ! पर न ऊबता है, रे, यह मेरा मन !
वही पिघलती साँझ सिंदूरी, 'शाली'[1] के जलमय खेतों पर !
कैसा ग्रद्भुत दृश्य सामने मेघ - पटल पर होता गोचर !
नील - सरोवर - सा लगता है, वह सुदूर नीला नभ -ग्रांगन !

लगता है चट्टान सरीखा, राख - रँगा बादल एकाकी !
बैठी वहीं समीप, धरे गगरी कोई, ग्रपलक निहारती
दूर, जहाँ पतवार उठाकर, मोड़ रहा है गति नौका की
कोई तट की ग्रोर ! यही छवि गगन - फलक पर है विराजती !

'तुम हो गगरी लिये, नाव मैं खेता !' प्रतिफल मेरे मन का,
या मुझ-सा ही प्यासा - प्यासा सपनाता है हृदय गगन का ?

१. धान .

"कितनी है बेमेल ज़िन्दगी मेरी और तुम्हारी !" तुमने
शायद उस दिन यही कहा था : जोड़े थे ये शब्द ठहर कर,
"फिर भी तुम्हें चाहती कितना !" सोचा इस पर जितना मैंने,
उतना ही विश्वास तुम्हारे ऊपर बढ़ता गया निरंतर !

"कितनी है बेमेल ज़िन्दगी मेरी और तुम्हारी !" मैंने
सोचा कितनी बार, एक भी बार न अधरों पर ला पाया;
"फिर भी तुम्हें चाहता कितना !" रोम-रोम ने था जतलाया :
इसीलिए शायद इतना विश्वास किया था मुझ पर तुमने !

दो शैलों के बीच न जाने बहती आईं धारें कब से ?
छिपी काँस, तृण-वन में बहतीं, गहतीं पथ शिलदल से होकर;
जो विराट नद में मिलनातुर, बहीं एक वह धारा बन कर :
दो शैलों के बीच तलहटी, गुंजित जिसके कल-कल स्वर से !

"हो कितनी बेमेल जिन्दगी मेरी और तुम्हारी, निश्चय
हम दोनों को जोड़ रही जो धार प्यार की, वह भी अक्षय !

आह, आज नभ ने पश्चिम में, कैसा करुण दृश्य दिखलाया !
छुआ हृदय अनजान व्यथा ने ! धीरे-धीरे होता दिनकर
अस्तंगत पीछे पहाड़ के, होती जिसकी लम्बी काया
नील-श्याम शोणित विहीन-सी : पर पीछे विकीर्ण ज्योतिशर

सहसा अब झलमला रहे हैं, उस लघु महराबी बादल पर,
झूल रहा जो तरु-फुनगी से ! शायद लेने तनिक सहारा
फैलाए रवि ने दुर्बल कर, ये जो हैं रेखायें धूमर !
दूर ताकता है अवाक्, कातर-शिशु-सा, वह साँझ-सितारा !

शैल-शिखर के हिम-संकुल पर, थोड़ी-सी बच रही लालिमा,
शेष ढुलक आई नीचे जल पर, बनकर धारा नोंकीली।
छायाओं को निगल, त्वरित गति, बढ़ती जाती कुहर-कालिमा,
और हो चली आँख व्योम की, करुण कुहासे से अब गीली !

लो, पलकें मुँद चलीं दिवस की ! झुरमुट से उठती है सिसकी !
उतर रही मेरे मन पर भी, यह अनचाही छाया किसकी ?
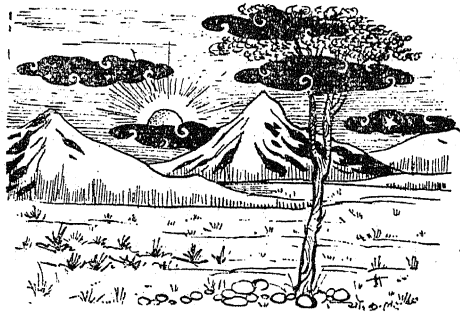
मेरा यह कविमन भी व्यापक 'अतिरंजी'[१] टीले-सा खँडहर,
फैला दूर, सुदूर ओढ़ कर मृदावरण नीरव-निर्जन में।
थके हुए अरमान घूमते चरवाहों से कंटक-वन में:
एक लालसा के प्रतीक-सी, नदी बह रही मूक रुदन कर।

महत् सृजन के रूप; विपुल सौन्दर्य भाव; छवि अनगिन कल्पन;
मानवता के शिव-पथ पर, शुचि विश्वासों के दीप ज्योतिमय;
कर्मतृप्ति की शान्ति—घने आमों के कुंजों के छायावन—
जिनके नीचे जाने कौन तथागत लेते कुछ दिन आश्रय,

हुए ध्वस्त, सब त्रस्त! ध्वंस कह रहे काल की नाश कहानी!
ओ, खँडहर खोजियो! पा गए तुम अवशेष-चिन्ह जो कतिपय,
क्या बतला सकते वह जो कर गया नष्ट यह जग अभिमानी?
तुम निर्दय कौतूहल, मैं अवसाद लिए हूँ आज प्रश्नमय!

मनुज अमर तू! तेरा साहस लाए वह दिन अब समीपतर,
जब तेरा विश्वास सजाता कवि का मन, बन जाय न खँडहर!

---

१. एटा से अट्ठारह मील दूर प्राचीन खँडहर, जो सम्भवतः बौद्ध युग के वैरंजा नगर के ध्वंसावशेष हैं, जहां महात्मा बुद्ध ने अपना बारहवाँ वर्षावास किया था।

जाने कब मैं यह कह बैठा ? "जब गर्जित झकोर हहरेंगे
"मेरे चारों ओर, बुझाने रचना का लघु दीपक मेरा,
"तुम भी उनमें से ही होगी, जो मेरा उपहास करेंगे,
"खड़े दूसरी पार, दूर ! घिरना होगा आतुर अँधेरा !"

सुन तत्क्षण सरोष हो आईं, हुआ नयन में घन घिर आना;
भरी चमक-सी; हो आईं थिर : बोलीं, "मैं उपहास करूँगी ?
"मैं ? बस इतना ही मेरा मन अब तक, प्रिय, तुमने पहचाना ?
"मैं" बोलीं फिर मुझे देख, "दीपक पर आँचल-ओट धरूँगी !"

पर वह तो मेरा कौतुक था, तुम्हें चिढ़ाना सिर्फ प्रयोजन,
ताकि पा सकूं सुख पल-भर, मैं रोषमयी छवि देख तुम्हारी !
किन्तु, हाय, वह कैसी कुघड़ी ! सत्य हो रहे मेरे कुवचन !
तुम उस पार, दीप बुझने को, और झकोर गरजते भारी !

पर विडम्बना ! जाने कैसी आशा मन में बाकी अब तक !
बस तुम आने ही वाली हो ! आँचल-ओट जलेगा दीपक !

पथ पर जाते-जाते सहसा, देखा तुमको आज नज़र-भर,
सूना आनन लगा तुम्हारा, जैसे एक सुघड़ प्रतिमा हो !
कितने दिन के वाद तुम्हें देखा, तुमने न मुझे देखा पर,
देखा भी तो, वनी रहीं, अनजान अपरिचय की गरिमा हो !

सोच रहा हूं, प्यार किया था जिसको कभी, देखकर उसको
क्या न हुई पल एक सुपरिचित लहर तुम्हारे उर में जाग्रत,
या अवहेलन के अभिनय की तह में ही रह गई अदर्शित,
और लहर-उपलहर बनी छू रही अगोचर दूजे तट को ?

जमी सरोवर पर काई की तह इतनी कि नहीं जल - तल का
लगता पता, व स्पंदन-गति का तो आभास और भी दुष्कर !
उठती लहर एक तट से, छूती है छोर दूसरे तट का,
पर उसकी कम्पन-रेखा, होती न दृष्ट काई के बाहर।

पर यह अभिनय व्यर्थ ! झकोर प्रबल उठता है मेरे मन से !
देखूँ तुम कब तलक न कम्पित होगी, मेरे हृत्कम्पन से ?
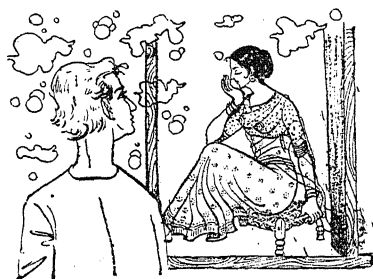
तुम्हें पत्र तो भेज रहा हूं, काश, न तुम तक पहुंच सके यह !
अपनी पीड़ा व्यक्त करूँ, बस औरों-सी ही गति हो इसकी !
इसके शब्द-शब्द से हल्की होती जाए पीड़ा दुर्वह,
अंकित हो इसमें मेरा अव्यक्त रुदन, यह नीरव सिसकी !

तुम तक पहुँचे यह न, और तुम कभी नहीं जानो यह पल-भर,
सौ-सौ दंशों की पीड़ा, कव पौरुष को मज़बूर कर गई !
कभी न देखो एक लहर भी, जो तट चकनाचूर कर गई !
छिपा रहे तुमसे, मेरे उर की अतलांत व्यथा का सागर !

तुम तक पहुंचे यह न ! एक भी अक्षर कहे न उन रातों की
बात, बहाए अश्रु, तुम्हारी निष्ठुरताओं की सुधि कर-कर !
जान न पाओ पल - भर, कभी शिकायत की उन आघातों की
जो तुम करती रहीं निरन्तर, मेरे कोमल मर्मस्थल पर !

लिखूं पत्र, फाड़ूं इसको भी ! रह-रह पीड़ा सहलाऊंगा !
पर सौगंध तुम्हारी ! तुमको दर्द न अपना जतलाऊँगा !
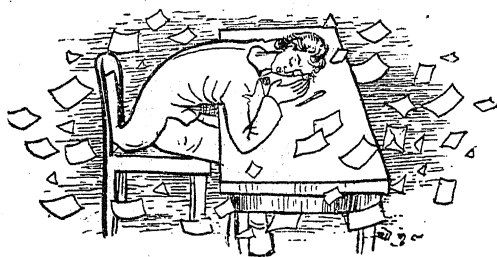
चाँद ! बताओ जब तुमने झाँका था उसके वातायन से !
क्या वह सोती थी, पलकों पर सुख सपनों की होती क्रीड़ा,
अथवा वह जगते नयनों से बहलाती थी मन की पीड़ा ?
हुई प्रतिफलित किरन तुम्हारी, क्या उसके आँसू के कण से ?

कहो यही कि जागती थी वह, और एक तड़पन से उसके
विकल प्राण हो रहे, एक पछतावा बन - बनकर बिलखाती
पीड़ा, करता था उच्छ्वासित रह-रह उसकी दहती छाती,
और नाम मेरा ही लेती बारम्बार मंद मर्मर से !

और कहो, है ज्ञात उसे, उसका कवि भ्रान्त विकल हो पल-पल,
भटक रहा है शर से घायल वन-वन, शैल-शैल सरिता पर !
उसकी नफ़रत, उसकी वहशत, और प्यार इन सबसे बढ़कर,
कर उठते विदीर्ण हैं अंतर ? नहीं एक क्षण पाता है कल !

आह, मौन हो तुम अब भी ! क्या नहीं ? नहीं पिघला वह पत्थर ?
तब क्या एक अनंतकाल तक, योंही टकराता जाऊँ सर ?

तुमने मुझे किया अवहेलित; लगता मुझको तुमने पटका
अविश्वास के निर्दय तम में : और मुझे अब यह लगता है,
बिना तुम्हारे जग में जीना, लगता व्यंग सिर्फ जीने का !
'तुम्हें छोड़कर सब मिथ्या है !' यही भाव पल-पल जगता है ।

पल-पल लगता यही कि जग की व्यथा नहीं है इससे बढ़कर !
परिवर्तन की हलचल जितनी गुजर रही मेरे आँगन से,
इसके आगे हेय ! निकल पाता है नहीं भाव यह मन से ।
यह असफलता—ज्ञात मुझे है—करती मुझको और क्षुद्रतर !

पर यह भी मैं कैसे भूलूँ ! दी यह घोर वेदना तुमने,
करती अंतर्मुखी मुझे है ! भीतर स्वयं टटोल रहा हूँ !
जो अब तक रह गए अजाने, ज्ञान-कोष सब खोल रहा हूँ ।
अंधकार में देख रहा हूँ, रत्न ढेर अनदेखे कितने !

गहरे उतर रहा हूँ पल-पल : ली रत्नों से ही झोली भर !
आशा का सोपान धरो तुम : इन्हें निकाल सकूँ मैं बाहर ।

पड़ा हुआ हूँ मैं शैया पर, तन से अधिक रोग है मन का !
सोच रहा हूँ तुम होतीं जो, चाहे होतीं दूर कहीं पर !
तो क्या काट रहा होता, अपने क्षण इतना उन्मन होकर,
हो उठता आश्वस्त हृदय, जब ध्यान किया करता आनन का !

घिर आती बदली विषाद की, जिस पर मेरी पीड़ा सुनकर;
एक विकलता से सहसा भर, झटपट मुझको पत्र पठातीं !
कितना सुख पाता मन-ही-मन, प्यार, तुम्हारी पाकर पाती !
मेरे अंतर - गिरि से औचक, झरता एक अजाना निर्झर।

पढ़ता सौ-सौ बार उसे मैं, जब-जब जग के कोलाहल से
पाता क्षणिक विराम : प्यार के कितने चुम्बन उस पर धरता !
फिर भी तुम्हें न देता उत्तर, जान - बूझकर देरी करता,
जब तक लिखतीं नहीं दूसरा, भिगो-भिगो आँसू के जल से !

पर अब तुम भी रहीं न अपनी, सपनों में रह गईं सिमट कर !
आज उन्हीं सुधियों में खोया, पड़ा हुआ हूँ मैं शैया पर !
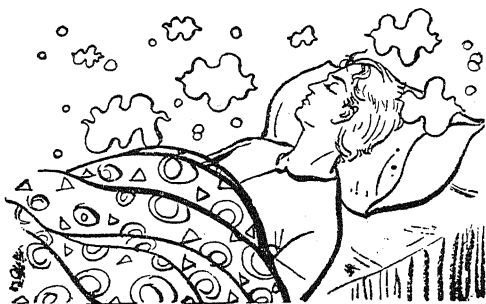
ज्योतिष - चक्र - कुण्डली - ग्रह के चक्कर के पीछे यों पागल
फिरता, निराधार संशयरत ! यह कैसा हो गया हृदय रे ?
कौन नियंता, सृष्टि - कर्म का चालक कौन कि जिसका अंचल
थाम आदि से मानवता बहती आई है वसुधा पर, रे ?

हुआ मुझे क्या, अंधकल्पना के आगे मैं हुआ आज नत ?
क्या मेरा विश्वास कि मानव ही है स्वयं विधायक अपना,
आज पराजित हुआ, कि या है मेरा एक भयानक सपना ?
सोच रहा हूँ अंधगली है, जिसमें रुकती मेरी पदगति !

सचमुच, हार गया अपने से, यही भाव रह-रह कर आया !
यह जो मेरी भ्रान्ति, विकलता, टूट-फ़ूट यह मेरे मन की,
जो अशेष उपलब्धि रही है, मेरे इस असफल जीवन की,
तुम ही हो इस सबका कारण ! सब पर पड़ी तुम्हारी छाया ।

तुम जीतीं, विश्वास जिताता । तुम विश्वास बनी थीं मेरा !
आज तुम्हारा अविश्वास भरता मेरे पथ में अंधेरा ।

हम तुम इतनी दूर हो गए, अब न मिल सकेंगे जीवन में !
और हमारे बीच घट गया, वह सब जिसकी रंच न हमने
कभी कल्पना की थी ! जीर्ण झर गए शुष्क पत्र - से सपने !
फिर भी एक कसक - सी बन कर, बात रह गई मेरे मन में !

'सचमुच, मुझसे प्यार नहीं था ? थे सब मिथ्या वचन तुम्हारे,
क्षणिक लहर की तरह हुए जो तरित तुम्हारे भावुक मन में ?'
"जनम-जनम के हम साथी हैं ! अविच्छिन्न ये सूत्र हमारे !"
यही कहा जो उस दिन तुमने, सत्य न हो पाया जीवन में !

सुख-समाज, दैनिक जीवन के कोलाहल के बीच कभी जब,
सहसा मेरी बात तुम्हारे मन की साँकल है खड़काती।
तब क्या नहीं कभी क्षण-भर—उस क्षण तुमसे विमुक्त होते सब—
'तुम्हें नहीं मैं भूल सकी हूं !' अधरों तक लाकर रह जाती ?

पर मैं तुम्हें जानता ! कब अपने से भी सच कह सकती हो ?
लेकर गहरी साँस, स्वयं को काम - काज में लय करती हो ?

निकला रेगिस्तान वही दिल, जिस पर मैंने प्यार लुटाया !
पतझर निकला वही, बहार समझ कर गले लगाया जिसको !
किसको अपने घाव दिखाता ? अपने दर्द सुनाता किसको ?
वही मज़ाक उड़ाते, छू - छू जिनको मैंने स्वर्ण बनाया !

माँगी मैंने शान्ति—दहकते अंगारों से मैं झुलसाया !
उष्ण प्यार माँगा—मेरे होंठों को दूषित किया मरण ने !
समझ न पाया कोई भी, जिसको समझाना चाहा मैंने !
जब वह समझा, देर हो गई ! मैं न स्वयं को समझा पाया !

तड़पा किया निराश्रय ! एकाकी ही घुटता रहा निरंतर !
मुक्त प्यार गाना चाहा था, गीत घुटन के ही गा पाया !
फूल न दिए किसी पौधे ने, दिया शूल से ही दामन भर,
और सजे फूलों से, मुझको काँटों में ही गया बिंधाया !

इस अशेष निर्जन में यदि तुम साथ न होतीं कविता मेरे,
विलख-विलख किसकी छाती पर, हरता अपनी मौन व्यथा रे !
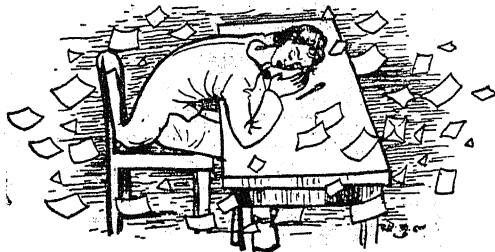
रात-रात - भर रहे काँपते, अम्बर पर ताराओं के दल !
पवन झकोर, गरज निर्झर की, और भयद करती सूनापन !
अँधियारे में नजर गढ़ाए, खड़ा हुआ खिड़की पर निश्चल !
कब आँखों से नींद उड़ गई ? लगता मुझको कितना निर्जन !

आह, प्रेम की पीड़ा कैसी ! हृदय जलाती है तिल-तिल कर !
धीरज नहीं बँधाता कोई ! सभी व्यंग या करते अभिनय !
वही जानता, ज्वालामुखी धधकता रहता जिसके भीतर !
वही जानता, जिसके भीतर बहती क्रंदन की करुणा-लय !

रात-रात - भर तारांकित अम्बर-सा विह्वल रोता यह मन !
विलख-विलख चुपचाप याद के दीप जलाता हृदय-प्रवासी !
तुम्हें भूल पाता तो रहतीं गीली आँख न बारहमासी !
तुम्हें भुलाने भटक-भटक कर, व्यर्थ न करता अपना जीवन !

तुम्हें एक दिन भूल सकूंगा, पाऊँगा तुमसे छुटकारा !
पर तब तक यह अवधि बनेगी, आह, नरक-सी निर्दय कारा !
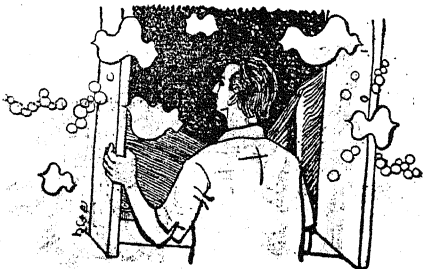
जिसने मानवता के हर संघर्षण पर जयगीत सुनाया;
युग के हर आवाहन ने पाया आगामी दल में जिसको;
लो, विडम्बना ! इस सुदूर जनहीन देश में आज उसी को,
खिड़की से सिर टिका देर तक सिसक-सिसक रोना ही भाया !

वह जो हर अन्याय जुल्म के दाँत तोड़ने होता तत्पर,
हर निष्ठुरता से लड़ने जो बाँह चढ़ाकर आगे आया;
लो, विडम्बना ! आज उसी का—सहसा किसी विफलता से भर,
नीरव दर-दीवारों से सिर, टकराने को जी हो आया !

गीत-गीत की पंक्ति-पंक्ति में, जिसने अंकित की सच्चाई;
प्यार बड़ा, पर अंशमात्र है; मानवता है सबसे बढ़कर;
आज उसी ने अवश विकल हो, आशा, जय, विश्वास त्यागकर,
आँसू के खारे पानी में, चिर की संचित पीर बहाई !

किससे माँगू क्षमा ? न रोता, तो घुट-घुट कर मैं मर जाता !
दर्द न आँसू में ढल पाता ! क्या होता, फिर कहाँ समाता ?

यों तो शेष रह गए हैं अब पत्रों पर धुँधलाते अक्षर,
पर अशेष-सा लग उठता है, कभी-कभी वह प्यार तुम्हारा !
'यह विदग्ध मन की छलना है', समझ गया हूँ भली-भाँति पर :
इसीलिए तो सोच न जाने क्या, तुमको फिर आज पुकारा ?

ना, मैं नहीं जोड़ने आया, अपना छिन्न प्यार का नाता !
भग्न-मुकुर जुड़ भी जाए, तो विकृत रूप दीखेगा अपना;
उसको फेंको ! मैं तो आया लेकर अपनी एक कामना,
मुझे विदाई दो, जैसे अस्तंगत रवि है शशि से पाता !

एक बार अकृपण कहो फिर, 'पंथ तुम्हारा हो मंगलमय !'
यों तो चुभते सदा रहेंगे, शूल वेदना के रह-रह कर !
पर मैं सब सह लूंगा : हल्काती जाएगी पीड़ा दुर्वह :
एक बार फिर मुझे देख लो, निज अंतर का क्षोभ गलाकर ।

हम अपनी राहों के राही, यहीं तलक था साथ हमारा !
अब अपने-अपने तट खोजें, हो अब अपनी-अपनी धारा !

डूब गया है सूर्य शिखर के पीछे : मेरे नयन गए भर
आँसू से : किस अवश भाव से भरा हृदय मेरा अकुलाया ?
क्या तुमने गुलमुहर पेड़ की छाया में फिर भावुक होकर,
मेरा 'चाँद-सितारों' वाला, सकरुण गीत आज दुहराया ?

तुमसे कितना दूर ! न गाने देता मुझको यह निर्झर-स्वर !
इस निर्जन पर्वत-छाया में दूर भाग कर तुमसे आया !
यह रोगी तन, यह रोगी मन ! उफ, कैसा नैराश्य समाया !
जग से लड़ना सहज, स्वयं से लड़ना होता है पर दुष्कर !

किन्तु लड़ूंगा, जूझूँगा ! मैं जीतूंगा तुमसे ही निश्चय,
ओ, क्षणजीवी अंधकार ! मेरे मन की इस क्षितिज-तटी पर
उगता चाँद रुपहला; बही चांदनी; घाटी गई सकल भर
और उठ रही धीमे-धीमे एक गीत की मृदु-मादक लय !

तब तुम 'चाँद सितारों' वाला गीत न गाना, जाने वाली !
क्योंकि रात की स्याही पर, उतरी है शशि की किरन उजाली !
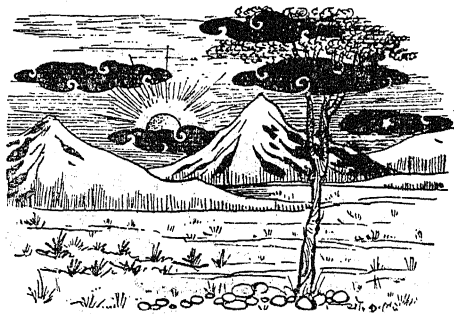
मेरे मन में अंधकार है, चाँद नहीं है, यही विवशता—
जाने किस आभा की छाया छलना में भटकाती आई ?
अगम शैल-वन में खोए, ओ चाँद ! तुम्हें आवाज़ लगाता !
मुझे पुकारो ! क्या मेरी पीड़ा न तुम्हें अब तक छू पाई ?

एक तुम्हारी करुण किरन के लिए मचलता हृदय हठीला,
कहीं सो गया मेरा हर्ष, ओढ़ कर नीरवता की चादर !
एक जागता है विषाद, जो करता पलकों को बोझीला,
एक तुम्हारे बिना भर गया है, कालिख से मेरा अन्तर !

इतने भरे सितारे, फिर भी मुझको एक अभाव तुम्हारा
करता है मजबूर कि कर दूं तम के द्वारे मूक समर्पण !
तुम्हें नहीं अहसास कि कभी मुक्ति भी बन जाती है कारा,
और मुक्ति से बढ़कर हो जाता है मन को मन का बंधन !

मैं अछोर अम्बर ! सनेह के धागों से कस दो मेरा तन !
दे दो बस चाँदनी ! लूट लो मेरा यह नक्षत्रों का धन !

तिमिर-वसन अपना उतारकर, चढ़ा चाँद, लो शैल-शिखर पर !
उचका चीड़ों के ढालों पर; अचक-पचक 'बेंतों' के वन से
लो, अब थाम सफेदों का कर, सरक रहा है गिरि-आंगन से
नील-गगन-सरिता में : सहज संतरण करता मंथर-मंथर !

राह घाट में मिलते बादल, उसे रोक लेते हैं अकसर :
वह भी मौजी जीव अटकता, कभी भटकता मेघ-विजन में :
कभी दुबकता गिरि के पीछे, खो जाता पल द्रुम-छाजन में,
फिर बाहर आ मुसकाता है : कभी झूलता झील-लहर पर !

जल-क्रीड़ा करता नभ-सरि में यह स्वच्छंद तरुण दुर्दम तन !
शीत सरकता है घाटी में ! पर देखो, यह विवसन होकर,
हँसता, तिरता, बहता जाता ! रह-रह घबराता मेरा मन !
आ, रे, मेरे चाँद ! बहा आ यों ही, आ, मेरे इस तट पर !

आ, जा, मेरे मन के भीतर ! तेरे लिए तिमिर है अतिशय !
आ, मेरी बाँहों में भर जा ! मेरा मन-वन कर ज्योतिमय !

बाले ! देखा मुझे, अचानक गाते - गाते क्या हो आया ?
मूक हो गईं, और तुम्हारे मृदुल कण्ठ की थमी मधुर लय !
क्या तुमने मेरी आँखों में देखी किसी व्याध की छाया,
या कुछ और पढ़ गईं मेरे नेह - भरे अंतस का आशय ?

गाओ गीत ! न जिसकी एक कड़ी भी मैं समझा मुश्किल से :
क्योंकि तरल संगीत बहा, सो बहा गीत के शब्द ले गया !
फिर भी मेरे भग्न प्रवासी मन को कितनी देन दे गया !
कैसे कहें अधर यह सब, जो कहना है मुझको दृग-जल से !

घर की आई याद ! बाग की अमराई में पल जा झूला !
माँ की उँगलियों ने कितनी देर केश सहलाए मेरे !
आँगन के हँसते फूलों में, यह मुरझाया मन जा फूला !
कितनी देर किए पैरों ने पहचानी गलियों के फेरे !

गाओ, डरो नहीं ! स्वच्छंद प्रकृति-आँगन में किलको विहगिनि !
टीस हृदय की बह ले यूँ ही, याद करूँ जब-जब मैं यह दिन !

आज जगा तो सहसा अपने कमरे में परिवर्तन पाया :
कुर्सी, मेज़, तिपाई, पुस्तक, सब ज्यों के त्यों : तनिक न अंतर :
फिर भी एक अनोखे स्वर ने किया कक्ष का नव रूपांतर :
छत की एक कड़ी में, गौरय्या ने अपना नीड़ बनाया।

आओ, स्वागत विहग तुम्हारा ! स्वागत, मुखरित करो प्रभाती !
ओ, मेरे कमरे के साथी ! भर दो यह सूनापन मेरा !
यों हम तुम में कितना अंतर ! तुम लेते जब नीड़ - बसेरा,
मैं यायावर ! जाने कैसी तृषा मुझे वन-वन भटकाती !

तुम जो गाते पुलक गीत, लगते यों तो वे स्वर अनजाने :
फिर भी जगा रहे हैं कैसी धड़कन मेरे मन के भीतर !
इतना ही बस मुझे बहुत ! जगजीवन में भी जो पहचाने—
इतने लगते, लगे अंततः मुझे अपरिचित तुमसे बढ़कर !

डरो न नन्हे विहग ! तृणों को छितरा-छितरा शोर मचाओ !
पुलक प्रभाती गाओ, जी-भर, कवि का सूना मन बहलाओ !
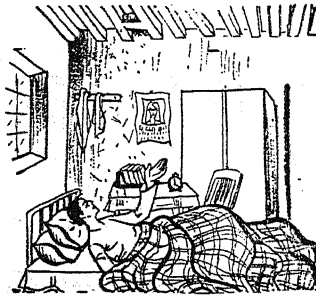
रात खुली रह गई भूल से मेरे कमरे की यह खिड़की।
आए सरक रुई - गाले से बादल चोरी से कब जाने ?
और भरे विहगों - से फड़ - फड़ करते, शीत झकोर अजाने।
मैं सोया चुपचाप पड़ा शैय्या पर, लेता निद्रा सुख की !

आँख खुली मेरी ! कमरे में कहाँ रह गई थी गरमाई ?
एक शीत चादर - सी फैली, गीला - गीला - सा सब आवह :
धीरे - धीरे जड़ित हो चला मेरा तन : तब सहसा आई
किरन चाँद की मुसकाती : मन में अयास कुछ आया रह-रह।

किरन चांद की आई ! पर मुझको क्यों आई याद तुम्हारी ?
अब तो सब कुछ ख़त्म हो गया; नहीं रहा हम तुम में बाक़ी
तिल-भर भी सम्बन्ध प्यार का : नहीं ऊष्मा ही ममता की :
राह अलग हो गई हमारी : फिर मन की यह क्या लाचारी ?

कैसे खिड़की खुली रह गई, जो घुस आई शिशिर - जुन्हाई ?
इतने दिन के बाद अचानक, क्यों फिर याद तुम्हारी आई ?

निर्झर ! मैं तुझ-सा यायावर ! अपने दिल का दर्द बँटाने
ढूँढ़ रहा हूँ साथी - संगी । कब से तुझे पुकार रहा हूँ ?
मेरी भी तो सुन ले पल - भर ! मैं अपने से हार रहा हूँ !
मुझे आज पीड़ित करते हैं, सचमुच, कितने दर्द अजाने !

मैं तुझ-सा ही ! मेरे पग भी कब विराम पथ में हैं पाते !
अवरोधों को चीर थिरकता, मैं भी अपनी गति से बहता;
एक प्रबल विश्वास लिए मैं कंकर - पत्थर में पथ गहता :
कोई वह क्षण नहीं रहा, जब मेरे अधर नहीं कुछ गाते !

मैं तुझ-सा भी नहीं ! एक ही नाद - ताल - लय के ओ, बंदी !
कभी दर्द, उल्लास कभी, जय और पराजय के गायन-स्वर
गाता हूँ मैं ! तेरी तरह नहीं है मेरी पदगति अंधी !
मर जाता, यदि गाता रहता किसी एक लय में लय होकर !

फिर भी मैं तुझ-सा ही तो हूँ ! तू जलधर, मैं स्वरधर निर्झर !
आ कुछ मेरा दर्द बँटा ले ! सुन ले मेरी भी रुक पल-भर !
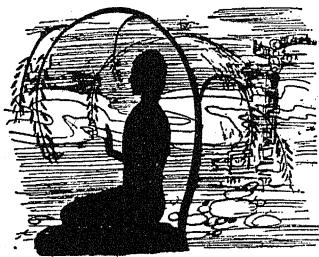
दूर पहाड़ी की चोटी पर, चमक रहा वह एक सितारा !
चला गया सुनसान शिवालय में ज्यों कोई दीप जलाकर !
मेरे पथिक हृदय के भीतर, घर की बेकल याद जगा कर,
झिलमिल चमका एक सितारा ! मुझे किसी ने आज सँवारा !

आँगन में तुलसी का चौरा, और सजा थाली में दीपक,
संझाबाती करती हो तुम, और मनातीं मंगल मेरा !
'शुभ हो उनका पंथ ! दीप काटे उनके पथ का अँधेरा !'
गाती हो तुम यही ! कान मेरे सुनते हैं जाकर तुम तक !

हाथ जोड़ दीपक के आगे, मेरा 'चाँद' खड़ा मुसकाता।
बड़े लाड़ से तुम जिसके माथे पर, टिकुली लाल लगातीं।
कैसी दिप - दिप दमक रही अब ! 'पापा' नाम उसे मचलाता !
ओह, अभी कितना चलना है आगे ? पीछे याद बुलाती !

और चढ़ रहा, और चमकता, चोटी पर वह शुभ्र सितारा !
मन के घिरते हुए तिमिर में, यह सुधि का ही दीप सहारा !

इस निस्तब्ध शैल-नगरी के दूर बसे होटल के भीतर—
बही आ रही धीरे-धीरे एक अनोखी धुन वंशी की।
बिलम गई है नींद : एक वैकल्य शिथिल करता है अंतर :
आधी रात गई मुश्किल से; आधी रात शेष है अब भी !

बिजली के दूधिया बल्ब - सा, चाँद जड़ा आकाश - पटल पर।
सोई है चाँदनी बर्फ पर : नीरवता चीड़ों के वन में,
जिसे भंग कर यह स्वर उठता। कौन गा रहा आज मचलकर ?
खींच रही तसवीर कल्पना उस गायक की मेरे मन में !

गाता वह, हर मीड़ जगाती है मेरे मन में कोलाहल !
एक पुरानी, बहुत पुरानी कसक उठी है याद अचानक।
'क्या न अभी तक भूल सका हूँ ? सचमुच, तुम्हें न भूला अब तक !'
चुप-चुप मेरे अधर कह गए, मन विचलित हो गया एक पल।

प्रथम प्यार की सुधि कब मरती ? भाव बदल जाते हैं मन के।
रह-रह उसे नया कर जाते, स्वर ऐसे वंशी वादन के।

पर्वत के ऊपर हैं बादल : पर्वत के नीचे हैं बादल :
पर्वत के पीछे हैं बादल : बादल जाते, बादल आते !
सूरज को ढँक लिया कभी का : छीन लिया उसका सारा बल :
मस्त, मौज में, शैल-ग्राम में, बादल 'पिकनिक' आज मनाते।

वह जो अटक गया है ऊँचे चीड़ों के श्यामल शिखरों पर,
कहीं पंक्ति से बिछुड़ गया है, शायद कोई छोटा बादल !
उसके आगे एक क़तार सरकती जाती वन के भीतर,
आखेटक के भय से ज्यों बेचैन भागता शशकों का दल !

धुनी रुई के गाले - जैसे, पड़े ढेर-के-ढेर यहाँ पर;
जिनके सम्मुख तनिक दूर, दानव-सा खड़ा अकेला बादल !
जुड़ी सभा है कोई शायद ! वह जो झूला है चिनार पर,
लगता जैसे सूख रहा है किसी ग्राम युवती का आँचल !

इतने बादल ! बादल ! बादल ! क्या इनमें ही है वह बादल,
तुम तक मेरी मर्म - व्यथा के पहुंचाने का हो जो सम्बल ?
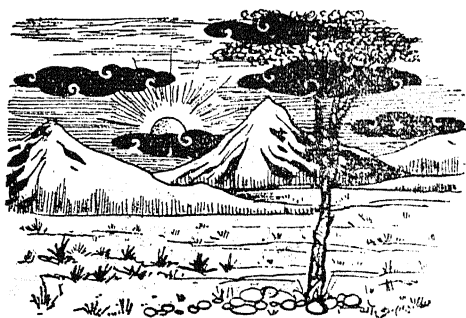
पुस्तक के पन्नों से सहसा, दृष्टि हट गई पढ़ते - पढ़ते,
कितने पर्वत, नदी लाँघ कर, दूर देश में जा पहुँचा मन !
और एक स्मृति से ही पल - भर, हृदय हो गया मेरा उन्मन;
लगा कि जैसे हार गया हूँ, इस दुनिया से लड़ते-लड़ते ।

याद आ गई मुझे तुम्हारी ! उस दिन चार 'सफेदों' पर जब
पूनम का चंदा पहाड़ की चोटी से आ सरका मंथर,
अपना झीना मेघ आवरण दिया उतार, और तब हँसकर—
हमको देखा : सारी घाटी तरल हँसी से भरी लबालब ।

हमने उसको देखा ! तुम्हें याद है शब्द कहे जो मैंने ?
'हैं कहार ये चार सफेदे, ले जाते चन्दा की डोली !'
देखा तुमने मुझे, मुसकराईं रहस्यमय, रहीं अबोली !
पर आँखों ने कहा बहुत कुछ, विस्मृत किया जिसे अब तुमने ।

जाने किस अनजान देश उतरी होगी चन्दा की डोली !
पर मन में उस सुधि ने क्यों अब यह पीड़ा की स्याही घोली ?

इस एकान्त पहाड़ी पर से, मुझे दे रही है दिखलाई
चीड़ों की तरु-राजि, ओढ़ती नील कुहर का झीना साया।
पल-भर का वह चित्र तुम्हारा इन आँखों में फिर-फिर आया,
उस दिन तुम भी निर्झर तट पर, नील वसन में सजकर आईं।

गमकाती गिरि-शिखर, फिसलती किरनें जब अधडूबे रवि की,
जिसके पीछे दायें, धवल श्याम हिम परत हो रही दर्शित :
उभर रहीं हैं हृदय-पटल पर, रह-रह रेखायें उस छवि की,
किये हुए थीं उस दिन तुम जूही के फूल केश में ग्रंथित।

अभी - अभी पीली ग्रीवामय बुलबुल इस उजड़े गिरजे पर
बैठी थी, सो गई मुझे चौंका, सहसा कर 'चिड़िक' 'चिड़िक' पल,
लगा—कहा कुछ तुमने—जैसे तब कहतीं पीछे से आकर,
औचक, 'सुनते हो ?' लो, मेरी आँखों में क्यों भर आया जल ?

अच्छा—बस ! अब नहीं करूँगा, याद तुम्हारी, ध्यान तुम्हारा !
पर मेरा इस मन पर क्या बस ? यह भी मुझ-सा ही पथहारा !

कितने दिन के बाद आज मैं आया हूँ इस निर्झर-तट पर !
वही ग्राम - कवि की समाधि है, अखरोटों की शीतल छाया !
अंकित नाम तुम्हारा उस दिन किया 'बेद' की जिस शाखा पर,
टूट गई अब; पल-भर कोई भाव जगा, यह मन विकलाया।

वही डगरिया है बलखाती, जिसके ऊपर पाँत बनातीं,
ग्राम-युवतियाँ, धरे कलशियाँ शीश, यहाँ भरने आतीं जल।
अब भी, उस छोटे टापू की बड़ी शिला पर, जब चमकातीं
माँज-माँज तुम अपनी कलशी, याद मुझे हो आया वह पल।

बरबस मुझे याद हो आया ! बहुत देर तक बैठ शिला पर
गातीं गीत : देर तक जिनका भरा हवा में रहता कम्पन।
पुस्तक पर धर हाथ, सोचता मैं क्या-क्या ? मुझको चौंकाकर—
तुम सहसा घर चल देतीं, छिटका मुझ पर कलशी से जलकन !

शून्य शिला को देख, पूछता मन, "क्या तुम अब भी गाती हो ?
क्या उस परदेशी को सुधि पर, नयन-कलश-जल छलकाती हो ?"

मुझे दिखीं तुम आज ! ओह, तुममें कितना परिवर्तन देखा ?
पहले चौंकी; फिर अनचीन्हेपन का तुमने कवच चढ़ाया !
बहुत देर बीती यादों से, मैंने इसका माँगा लेखा;
फिर सोचा, तुम वर्तमान हो, मैं अतीत की भूली छाया।

तुम ही बदलीं नहीं, लगा यह बदल गया है प्यारा निर्झर,
जिसके तट पर बैठ प्यार की कितनी शपथें थी दुहराईं !
पक्के घाट, किनारे, पुल, बेंचें, विद्युत - उपकरण मनोहर :
उसकी सहज वन - श्री को न झलक ऊपर से पड़ी दिखाई।

देर तलक जब तट पर बैठा, निरखा निर्झर का आभ्यांतर,
"अरे ! कहाँ यह बदला ? अब भी पड़े उपल निर्मल चल जल में ?
अब भी काई - लगे पत्थरों से लहरें जातीं लड़ - लड़ कर,
अब भी वही 'बेंत' की शाखा, भरती है फुहार अंजलि में।

ऊपर जो इतना बदला है, वह समाज है ! मजबूरी है !
पर मन तो निर्झर ! सच, तन-मन में अब भी कितनी दूरी है !
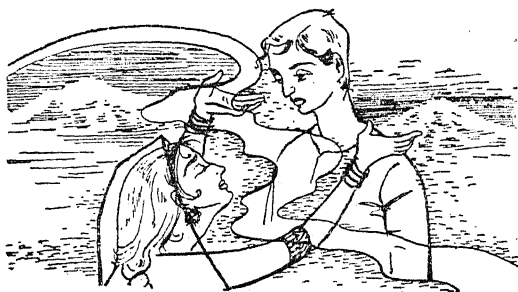
नील शैलिनी की चोटी पर, कुहर - मेघ का धूम्र उठ रहा !
ऐसा लगता जैसे अखरोटों के वन में आग सुलगती !
दूर ग्राम की लाल छतें सब, लाल - लाल गोटी-सी लगतीं !
पर्वत - नद का स्वर घहराता, लगता जैसे कंठ घुट रहा !

मिमियाते हैं मेष, हो रही चरही जाने की तैयारी।
रँभा रहीं हैं गाय : बाँग तमचुर की उठती सबसे ऊपर।
चट-चट श्याम विहंगिनि करती : कुड़-कुड़ हैं पड़कुलिया के स्वर,
बैंतों के वन में बुलबुल ने फिर महफिल की याद सँवारी।

कलश शीश पर धरे, चली निर्झर जल लेने पर्वत-बाला;
लकड़हार श्रमिकों ने वन जाने के हेतु कुठार उठाई :
सब कुछ होता वही, रोज़ जो होता, पर न आज है आई,
मुक्त-ध्वनि 'हर्ष' की, क्योंकि कुहरे में डूबा पड़ा उजाला।

यह कुहरिल प्रभात - पेड़ों से झरते हैं टप-टप कुहरा - कण।
आज तुम्हारी सुधि का कुहरा, करता मेरा भी मन उन्मन।

बार-बार मेरी खिड़की पर, चोंच मारती बुलबुल आकर,
मानो बार-बार कहती, 'अब तो खोलो अपना वातायन !'
मैं हर बार मौन रह जाता, देखा करता पीली गर्दन,
लघु कलगी उस बुलबुल की; सुनता हूँ उसके चिड़िक-चिड़िक स्वर।

भर-भर आता है मेरा जी, जो बीती सुधियों में खोया !
लगता भीतर एक विवर है, चारों ओर भरा सूनापन,
डूब रहा हूँ जिसमें प्रतिपल, कोई खींच रहा है गोया—
मुझे गहन दलदल में नीचे; जकड़ा एक विवशता में तन।

तब सहसा यह बुलबुल आती; आते इसके चटा चटुल स्वर;
चौंक-चौंक कर मैं अतीत से, जगता वर्तमान के पल में;
जिसमें पुलक, प्रकाश, और चंचलता है यौवन-अंचल में:
जाग रहे अविराम चेतना तल पर, जीवन के बहुविधि स्वर।

चौंच मारती बुलबुल; जीने का देती मुझको आवाहन।
लो, मैं खिड़की खोल रहा हूँ ! आओ, विहगिनि, शत प्रतिनंदन !

मुक्त हुआ वह नभ का कोना, लो, आख़िर उस कुहर-जाल से !
हटी यवनिका; नए दृश्य की सरस भूमिका हुई प्रदर्शित :
हिमावृत्त शैलिनिमालाओं पर रवि किरनें हुईं विनर्तित :
मलिन दाग़ से बादल अब पुछ गए तुङ्ग पर्वती भाल से।

अब तक लगीं विषाद-मग्न-सी, तरु-पाँतें मुसकरा रही हैं।
उड़तीं बकुल-पंक्ति धवलाई की चल रेखा-सी कलरव-रत।
श्याम, गेंहुआ गायें मेड़ों के ऊपर से गुजर रहीं हैं,
दर्पणवत खेतों की साड़ी पर करती हैं कन्नी शोभित !

गातीं मीठे 'लोल'[1] युवतियाँ, लिए दराँत, चढ़ीं वन ऊपर,
जिनकी पिघली मीठी गूंजों से भरती जा रही तलहटी !
मिमियातीं भेड़ें ढालों से सरकीं, सुन 'राखी'[2] की सीटी :
दूर तली के मंदिर से उठती है धूम्र-शिखा बल खाकर।

वायु-झकोरों से कुहरों से जैसे मुक्त हो रहा अम्बर,
लगता गीले व्यथा-भार से हल्काता मेरा भी अन्तर।
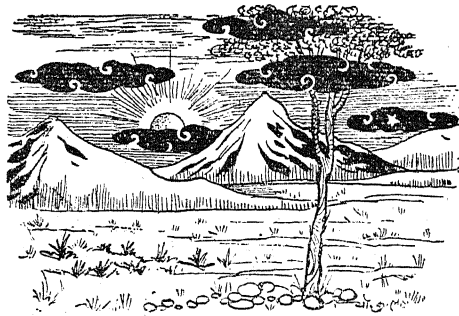
१. काश्मीरी युवतियों द्वारा गाए जाने वाले प्रेम-गीत। २. रखवाला।

सांध्य भ्रमण में आज देर तक, याद तुम्हारी रही सुन्दरी !
बहुत देर तक पीड़ित हुआ न एकाकीपन से मेरा मन।
याद तुम्हारी रही बारजे पर जब मेरी नजरें ठहरीं;
किए हुए थीं लाल फूल का तुम अपनी अलकों में ग्रंथन।

मैंने पूछा, 'फूल कौन सा ?' 'पता नहीं !' तुम बोलीं हँसकर,
और निकाल लिया कुंतल से, 'लो ! यदि यह है तुमको प्यारा !'
मुझे थमाया, और मुसकराईं, फिर चली गईं तुम भीतर,
और शैल से धीरे-धीरे चढ़ता रहा साँझ का तारा।

लम्बी, टेढ़ी तारकोल की सड़क, अंधेरी जिस पर छाई,
लगी शून्य मेरे जीवन-सी, अब तक यूं ही चलता आया !
आज अनोखी बात ! फूल-सा ही मैंने हल्का मन पाया।
बहुत देर तक मन-प्राणों में उसी फूल की सुरभि समाई।

लिए अपरिचित फूल हाथ में, एक बात ही सोची रह-रह,
मुरझाएगा फूल सुन्दरी ! पर क्या मुरझाएगी सुधि यह ?
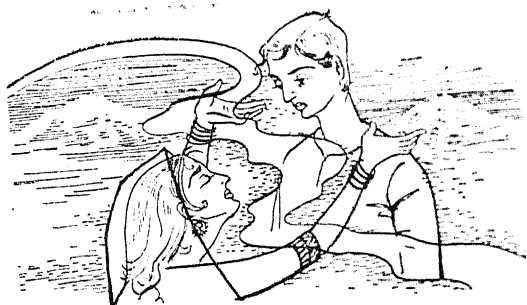
बंधु ! अपरिचित ही रह जाते, यदि न काल की लहर हमारा
क्षणिक टिकाव बनाती इस लघु शैल-ग्राम-निर्झर के तट पर !
जानोगी क्या कभी कि कैसे एक बदलते हुए निमिष पर
बना तुम्हारा स्नेह, मुझे, मेरे कवि को एकान्त सहारा ?

ज्ञात मुझे, जो एक सूत्र में हमें गूंथ दे जोवन-भर को,
वे क्षण हमसे दूर—अगर हों भी तो छिपे अदृश्य कुहर में !
फिर भी जाने क्यों रह-रह कर एक भाव उमड़ा अंतर में ?
'कहीं चाँद-सी करतीं ज्योतित, मेरे मन के वन-प्रांतर को !'

अब भी हो तुम चाँद ! और यह मेरे मन की वन-उपत्यका
तुमसे होगी जगमग : पर न कभी देखेंगे तुमको ये दृग !
तुम पीछे चमकोगी, तुमसे दूर मुझे ले जायेंगे पग !
साथ चलेगी मेरी लम्बो छाया बनकर पथ-प्रदर्शिका ।

सच, कितना सुख देता, देता कितना दुःख यह मिलना पल-भर !
सुख तो तुम दे चुकीं, मुझे दुःख सहने को होना है तत्पर !

जब से तुम यह जान गई हो, मैं तो तुम से भी विह्वलतर,
देख रहा हूँ नयन तुम्हारे, मुसकानों में जगमग करते !
और तुम्हारे मुसकाते दृग, मेरे अंतर में हैं भरते
एक निराली ज्योति, झिलमिलाती मेरे अँधियारे पथ पर !

स्वार्थ और छलना की इस दुनियाँ में कभी-कभी मेरा मन
राह छोड़ कर किसी पेड़ के नीचे बैठा एक किनारे,
सोचा करता है कि और क्या इससे दुःखमय देगा जीवन ?
तब अकसर झलमला उठा करते मुसकाते नयन तुम्हारे !

ये मुसकाते नयन तुम्हारे ! जब मैं अलस निढाल कल्पना—
के पंखों पर चढ़कर, करता रहता हूँ ये कागज़ काले,
पंक्ति-पंक्ति पर घूमा करते, पढ़ते, करता जो कुछ रचना,
थकता हूँ मैं तो बनते हैं मेरे लिए अमृत के प्याले।

ये मुसकाते नयन तुम्हारे, चिर-चिर साथ रहें जग-पथ पर,
बन अग्रिम प्रकाश मेरे बहु-अभिलाषी जीवन के रथ पर।

समझ रहा हूँ भली-भाँति मैं, तुम यह सब कुछ समझ रही हो !
फिर भी तुमसे कहता हूँ, यों करता बात और की जैसे !
तुम भी समझ रही हो, यह जो दूर-दूर रहती हो मुझसे,
मैं भी समझ रहा हूँ पल-पल, मेरे और पास आती हो !

आतीं जितनी पास हृदय के, दूर देह से होती जातीं !
होते जितने उर में स्वर आलोड़ित, होतीं और मूकतर !
समझ रहा हूँ मैं जो रह-रह, दूर मुझे तुम हो समझातीं !
पर तुम नहीं समझती हो क्या, जो समझाता हूं चुप रह कर !

मीठी छलनामयी प्राण ! कुछ भी न छिपाना तुमसे आता !
शब्द कहें कुछ और, कान पर धरता हूँ कब शब्द तुम्हारे !
पर तुम जो अशब्द कहती हो, कान वही सुनते हैं मेरे,
क्योंकि हृदय का सत्य वहीं से, रिस-रिस कर बाहर आ पाता !

शब्द-अशब्द समान कहो ! तन-मन में रखो न इतनी दूरी !
और बढ़ाओ व्यर्थ न—यों ही कम क्या जीवन में मजबूरी !

मैंने तुमको चूमा ! इतनी चौंकी ! पाप इसे बतलाया !
यदि परिणय से पूर्व तुम्हारे अधरों का अमृत मैं पीता !
पर जिस क्षण से तुमने मेरे उलझे बालों को सहलाया,
सृष्टि-नियंता के समक्ष, उस क्षण से तुम मेरी परिणीता !

सुन मेरी पुकार तुम मेरा आश्रय बनीं, प्राण ! जिस क्षण से,
जब से कोई क्षण न तुम्हारा, मेरे बिना अकेला जीता !
उस क्षण प्राण बंधे प्राणों से, स्वयं प्रेम के ही बंधन से,
सृष्टि - नियंता के समक्ष तुम मेरी उस क्षण से परिणीता !

मन का मेल सत्य होता है, मिथ्या धर्मग्रंथ की भाषा !
टूट जायँ यदि मन के बन्धन, क्या होगा मंत्रोच्चारण से ?
छोड़ गई इस मिलन - तीर पर, हमको जब से विकल पिपासा,
सृष्टि - नियंता के समक्ष, मेरी परिणीता हो उस क्षण से !

आओ, प्रिय विवाद छोड़ो यह ! करो न शंका से पीड़ित मन !
आओ, तुम्हें चूम लूँ मैं फिर, आओ, और कसें मन बन्धन !

भग्न हृदय मैं ! क्या तुम भी मुझसे वह ही व्यवहार करोगी,
जो उपहार मिला करता कवियों को जगजीवन से अकसर ?
क्या तुम भी औरों-सी ही, मेरे पथ में अँधियार भरोगी ?
सहज मनुज - जीवन का सुख रह जायेगा बस सपना बनकर ?

तुम भी खेल करोगी पहले, मेरे कवि के भावुक मन से ?
तृप्त करोगी अहं, तनिक प्रकटाओगी पहले कोमलता;
प्रेम जगाओगी दिखला कर, रह-रह उसके प्रति चंचलता;
फिर सहसा कुछ ढूँढ बहाना होगी मुक्त सहज बन्धन से ?

रोऊँगा मैं ! पर न अश्रु मेरे, आयेंगे दृग से बाहर !
हाँ, तुम जानोगी, जो मुझको व्यथा पड़ेगी व्याकुल सहनी !
जितनी होगी मेरी तड़पन, तुम गौरव-सुख से भर उतनी,
मुझको अपराधी ठहराकर, बन अबोध विचरोगी पथ पर ?

और व्यथा पी जिया, यशस्वी हुआ, सगर्व कहोगी तुम तब ?
"मैं न अलग होती तो, कवि क्या दे पाता गीतों का वैभव ?"

देखो ! वेला निकट आ रही, हम तुम दोनों बिछुड़ेंगे जब,
हृदय जुड़ेंगे और, देह से अलग न जाने होंगे कब को ?
कितना कहना मुझसे तुमको ! कितना कहना तुमसे मुझको !
यह न बीतने दो क्षण यों ही, ये हमको मिल पायेंगे कब ?

आओ, मेरे पास ! तुम्हारे कुंतल से पल अधर छुआ कर,
कहने दो मुझको कि जन्म-जन्मों का है यह साथ हमारा !
आओ, मेरे पास ! टिके मेरे कंधे से शीश तुम्हारा !
नयन मिलें नयनों से, "बहुत बुरे हो !" कहें अधर मुसकाकर !

'सचमुच, बहुत बुरा हूँ !' मैं भी सोचूँ प्राण, तुम्हारे आगे !
'तुम कितनी अच्छी हो !' मेरा हृदय कहे, न अधर कह पायें !
नई अजानी हर्ष-पुलक की लहरें रोम-रोम में जागें !
आओ मेरे पास ! चलो हम कुछ पल सुख के घर हो आयें !

फिर क्या हमें खलेगी इतनी प्राण ! प्रतीक्षा की यह कारा !
आओ, मेरे पास ! जन्म-जन्मों तक होगा साथ हमारा ।

एक चित्र उभरा है मन पर : खड़ी हुई हो तुम, होटल की
रेलिंग का ले रहीं सहारा : पिघले हिमकरण की है 'टप' 'टप',
ऊपर की छत से सुन पड़ती : अन्दर बैठे करते गपशप
होटल के वासी : ठहरी हैं कुछ किरनें आकर सूरज की,

करतीं आधा मुख चमकीला : अर्द्ध-निमीलित एक नयन है :
छहरातीं दो चार अलक : साड़ी का पल्ला उड़-उड़ जाता :
शीत झकोर चला आता, अपनी अल्हड़ अठखेली करता :
तुम कुछ हो खामोश : विषाद-भरा-सा रहा तुम्हारा मन है।

मुझे देखतीं अपलक, मैं जो खड़ा पढ़ रहा जाने कब से
धीरे-धीरे उस धुँधलाते हुए चाँद की करुण कहानी !
और तुम्हें भी देख रहा हूँ, मैं अपनी आभास नज़र से,
और लग रहा मेरे मन का, हिम गल-गल कर होता पानी।

'आज मुझे जाना है !' सोच रहा मैं तुम्हें देख यों विह्वल !
'आज तुम्हें जाना है !' तुम सशोक कहतीं अपने से पल-पल।

वह मेरे आने का दिन था। सोच रहा था मैं कमरे पर
नज़र डालकर, पढ़ता अंतिम बार, लिखे थे जिसमें हमने
सुधि के अक्षर, जो औरों के लिये रहेंगे अगम अगोचर;
पर हमको ? दृग में भर देंगे आँसू-भीगे बीते सपने !

इस खिड़की के पास मुसकराई थीं तुम ! वह पहला परिचय !
यहाँ छुआ था चिबुक तुम्हारा ! यहाँ सँवारी मेरी अलकें,
तुमने अपनी उँगली से ! अह, कितनी प्यार विचुम्बित झलकें !
तिरतीं, जैसे एक-एक कर माँग रहीं अलविदा करुणामय !

तब तुम सहसा आईं ! मैंने देखा, आई थीं रोकर तुम !
बोलीं, "क्या सचमुच अब कभी न मिल पायेंगे ?" और सिसककर
मेरे कंधे पर चिपकाया अपना सिर : मैं भी था गुमसुम।
चूमे केश तुम्हारे; चुम्बन धरे तुम्हारे सिक्त पलक पर।

कितने दिन की बात ! पड़ गये धूमिल सब स्मृतियों के अक्षर !
पर यह चित्र उभरता मनमें, विकलाता अब भी रह-रह कर !

होगी याद विदा वेला की ? जब बोली दृग में आँसू भर,
'रोज शाम के होते ही, मैं गीत तुम्हारा दुहराऊँगी !'
रहीं मौन कुछ देर : कहा फिर, 'अलग न होंगे हम जीवन-भर !
रोज शाम को गीत-पुलिन पर, मैं तुमसे मिलने आऊँगी !'

रोज शाम आती है यूं ही ! मुझको बहुत याद आती हो !
रोज शिखर से चढ़, पल्लव-वन में छिप जाता साँझ सितारा !
रोज मुझे छलती हैं सूनी वीथि, और निर्झर की धारा !
अपना गीत गुनगुनाता हूँ, लगता मुझे तुम्हीं गाती हो !

जीवन मेरा गीत, गुनगुनाया जिसको किस क्षण में जाने ?
लिख न सका, खो चुका इसलिये धीरे-धीरे विस्मृति-सर में !
तुम बस एक कड़ी हो बाक़ी ! जिसको दुहरा-दुहरा कर मैं,
संचित करने चला, गीत के बोल सभी जाने - पहचाने !

तुम मुझको, मैं तुमको गाता ! आओ अब हम मिलकर आयें !
अब बारी अपनी, हम भी जग की महफ़िल में रस सरसायें !

बोलो, क्या अब भी उदास हो, दुर्वह स्मृति के बीते क्षण पर ?
वह क्षण तो मेरे जीवन से जाने कब का विदा हो गया !
तुमको लगता है कि वही तट, वही धार, वे ही हैं तरुवर,
पर सच यह, वह सरिता-जल सागर में कितनी दूर खो गया !

सचमुच, कितनी दूर खो गया अनजानी सतहों में जाकर !
बरसेगा जब बादल बनकर, तुम न जान पाओगी इसको;
खड़ी झरोखे पर उदास—जब भूल चुकोगी तुम इस क्षण को—
तब चुपचाप अजान भिगो देगा यह तुमको औचक आकर।

तुम सुख मानोगी कि तुम्हारे मन का मैल हटाया इसने,
सींचा शुष्क हृदय-मरु, और बह गया यह नयनों से छल-छल;
पर तुम जानोगी न, तुम्हारा व्यथा-भार हल्काया जिसने,
था अतीत क्षण वही, कभी जिस पर तुम हुईं शोक से विह्वल !

और जान भी लो कि वही क्षण इन गीतों में ढल कर आया,
तो तुम करना गर्व कि इसने कितनों के दुःख को सहलाया !
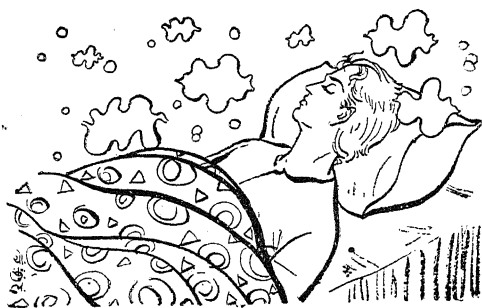
डूब चुका है सूरज ! पर देखो ! वह उसकी शेष ललाई,
बिछल-बिछल चीड़ों पर होकर, दूर हिमशिखर से जा चिपकी !
मरणोन्मुख मानव की अंतकामना-सी देती दिखलाई !
लो,अब वह भी लुप्त ! दिवस की थी जैसे यह अन्तिम हिचकी ।

डूब चुका है सूरज ! भरने लगा चतुर्दिक् अब अँधियारा !
अभी चाँद का पता नहीं है ! पर देखो, उस शैल-शिखर पर
चढ़ता आता साँझ सितारा, इस संक्रांति-घड़ी का बनकर
ज्योति-दूत-सा ! 'नहीं रुकी है' कहता, 'कभी ज्योति की धारा !'

सचमुच, नहीं रुकी है ! चढ़ता जा रे, मेरे साँझ-सितारे !
मत करना परवाह कि तम की छायाएँ तुझको निगलेंगी !
लो, पहाड़ के पीछे बंदी चाँद तोड़ बंधन आया रे !
जब तक तू विलीन होगा, चाँदनी तिमिर का विष पी लेगी ।

ओ, संक्रांति काल के दीपक ! ओ, संध्या के 'लुब्धक' तारे !
अभी-अभी ही तूने मन को जाने क्या-क्या सिखलाया रे !

यतेन्द्रकुमार

श्री यतेन्द्रकुमार नई पीढ़ी के उन विरल साहित्यकारों में से हैं, जो प्रचार और विज्ञापनबाजी से दूर, एकान्त साधना और अध्यवसाय में विश्वास करते हैं। अपने साहस और धैर्य के फलस्वरूप अब तक कई प्रसिद्ध अंग्रेजी-कवियों की श्रेष्ठ रचनाओं का रूपान्तर प्रस्तुत कर चुके हैं, जिनमें 'महाकवि कीट्स का काव्य-लोक' और 'शेली' पुस्तकें अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। 'शेली' पर उत्तर-प्रदेश सरकार ने तीन सौ और केन्द्रीय सरकार ने दो हजार रुपए की धन-राशि पुरस्कारस्वरूप प्रदत्त की है।

आपकी मौलिक काव्य रचनाओं के दो संकलन शीघ्र ही प्रकाश में आनेवाले हैं, जो अपनी अनूठी भावाभिव्यक्ति के कारण निश्चय ही नई कविता में अपना विशिष्ट स्थान बनाएँगे। कवि होने के अतिरिक्त, आप एक अच्छे समालोचक और सिद्धहस्त गद्य-लेखक भी हैं।

जीवन काफी संघर्षशील परिस्थितियों में बीता। सर्वाधिक रुचि है मुक्त स्वच्छन्द पर्यटन में। शौक की चीज है छायाकारी।

अवश्य ही किसी बलवती प्रेरणा से ही वशीभूत होकर, आपका आभ्यांतर आज की आपा-धापी के युग में भी कठिन कवि-कर्म को जीवन-कर्म के रूप में अपनाए रखने को विवश कर रहा है, जिसकी सफलता की बात भविष्य ही बता सकेगा।

'छाया के स्वर' काश्मीर की सौन्दर्य-स्थली का सजीव चित्रण करने वाले मार्मिक सॉनेटों का सचित्र संग्रह है।

०००